



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 5.2  
 IJAR 2018; 4(1): 467-470  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
 Received: 24-11-2017  
 Accepted: 26-12-2017

## डा० कैवल्य चैतन्य

सूर्या अपार्टमेन्ट, फ्लैट नं०- 102  
 आदमपुर, भागलपुर, बिहार, भारत

## संस्कृत में अक्षरावधारणा : ध्वनिशास्त्रीय विवेचन

### डा० कैवल्य चैतन्य

#### सारांश

क्षरण का अर्थ 'दूसरे का अंग होकर चलना' है। अक्षर का मुख्य तत्त्व स्वर है। कुछ ध्वनियाँ अधिक मुखता के साथ सुनाई पड़ती हैं। ये ध्वनियाँ ही अक्षर के प्रमुख आधार हैं। अंग्रेजी में 'अक्षर' के लिये 'लससंसंसम' शब्द है। यह शब्द वही अर्थ देता है, जो संस्कृत के 'अक्षर' का है। एक या एकाधिक ध्वनियों से युक्त वह इकाई, जिसका उच्चारण वायु के एक ही झटके से हो जाय, अक्षर कहलाती है। जिस शब्द का उच्चारण जितने झटकों में होगा, उस शब्द में उतने ही अक्षर होंगे। इस प्रसंग में विचारणीय प्रश्न यह है कि स्वराघात, बबमदजद्ध तो केवल स्वरों का ही गुण है, फिर व्यंजन क्या स्वराघातहीन होते हैं? इसका उत्तर यह है कि व्यंजन स्वरों की समीपता से ही उनके गुणों को प्राप्त करते हैं। अर्थात् व्यंजन भी स्वराघात को प्राप्त कर लेते हैं। व्यंजन जिस स्वर के समीप स्थित रहते हैं उसी स्वर के स्वराघात का अनुवर्तन करते हैं – उसी स्वर के स्वराघात से सस्वर होते हैं।

**मुख्य शब्द :** मुखरता, आधार, झटका, स्वराघात, स्वराघातहीन, अनुवर्तन, अंग, स्वर।

#### प्रस्तावना:

संस्कृत के 'अक्षर' का वही भावार्थ है, जो प्रायः अंग्रेजी के 'लससंसंसम' का है। एक अथवा एकाधिक ध्वनियों से युक्त वह इकाई, जिसका उच्चारण वायु के एक ही झटके से हो जाय, अक्षर कहलाती है। व्यंजनों का उच्चारण स्वर-संयुक्तता एवं स्वर-सामीप्य से होता है।

#### आलेख (Main thrust)

सर्वप्रथम अक्षर की परिभाषा एवं उसके लक्षण पर विचार कर लेना उचित होगा। प्राचीन ध्वनि-शास्त्रीय ग्रंथों में तथा अनेक अन्य ग्रंथों में अक्षर शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में पाया जाता है। इसीलिए अक्षर का निर्वचन भी अनेक प्रकार से किया जाता है। तै० प्रा० पर वैदिकाभरण में अक्षर का निर्वचन इस प्रकार किया गया है – 'जो क्षरित न हो वह अक्षर है।'<sup>1</sup> क्षरण का अर्थ 'दूसरे का अङ्ग होकर चलना' है।<sup>2</sup> अतः इस भाष्य के अनुसार अक्षर वह है जो दूसरे का अङ्ग होकर न चले। अर्थात् जिसकी स्वतंत्र सत्ता हो। यह भाष्य स्वर-ध्वनियों को ही अक्षर मानने के पक्ष में है क्योंकि व्यंजन तो स्वर के अङ्ग होते हैं। अतः उनके विषय में कदापि नहीं कहा जा सकता कि व्यंजन भी अक्षर हो सकते हैं। तै० प्रा० में भी स्वर के लिये ही अक्षर संज्ञा का प्रयोग किया गया है। महाभाष्य में भी अक्षर की व्युत्पत्ति दी गई है जिसके अनुसार भी यही कहा जा सकता है कि जो नष्ट न हो, क्षीण न हो वह अक्षर है।<sup>3</sup> निरुक्त में भी अक्षर की इसी प्रकार की परिभाषा दी गई है। निरुक्तकार के अनुसार अक्षर शब्द 'क्षर्' धातु से निष्पन्न है तथा इसका अर्थ है 'जो नष्ट न हो', जिसका कभी विनाश न हो वह अक्षर है। वास्तव में अक्षर शब्द का प्रयोग प्रणव आदि के लिये किया गया है। इसका कारण है कि ब्रह्म को अनश्वर, अटल, अविनाशी आदि विशेषणों से युक्त माना गया है। कालान्तर में ध्वनि-वैज्ञानिकों द्वारा यह शब्द ग्रहण कर लिया गया तथा उन्होंने भी उस शब्द को अपने ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रंथों में स्थान देना प्रारंभ कर दिया। प्राचीनकाल में भाषा या वाक्य को अविभाज्य माना जाता था। धीरे-धीरे जब भाषा का विश्लेषण प्रारंभ हुआ, तो वाक्य को पदों में विभक्त किया गया। पदों को अविभाज्य कह कर उसे संभवतः 'अक्षर' का नाम दिया गया होगा। परवर्ती काल में पुनः शब्दों को ध्वनि समूहों में विभक्त किया गया। इस प्रकार उसे अक्षर कहा गया और आगे चलकर जब ध्वनि समूहों का भी एक-एक ध्वनि के रूप में विश्लेषण किया गया तो 'क', 'ख', 'ग' आदि एक-एक ध्वनि के लिये अक्षर संज्ञा का प्रयोग किया गया। जिसके मूल में धारणा यह रही होगी कि अब इन ध्वनियों को किसी प्रकार से अधिक छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता। अर्थात् ये अविभाज्य हैं – अनश्वर हैं। इस धारणा के पीछे एक बात और थी, वह

#### Corresponding Author:

#### डा० कैवल्य चैतन्य

सूर्या अपार्टमेन्ट, फ्लैट नं०- 102  
 आदमपुर, भागलपुर, बिहार, भारत

यह कि शब्दों या ध्वनियों का दार्शनिक विश्लेषण होने से यह सिद्ध हो रहा था कि ध्वनियाँ कभी भी नष्ट नहीं होतीं। ऋ० प्रा० में कहा गया है कि कतिपय आचार्य वर्णों को शाश्वतिक मानते हैं, कार्य नहीं मानते।<sup>4</sup> इसी तथ्य की पुष्टि तै० प्रा० के त्रि० भाष्य में की गई है। उसके अनुसार जिस प्रकार जल भूमि में सर्वदा विद्यमान रहता है, खोदने से वह केवल दिखलाई पड़ जाता है, उसी प्रकार ध्वनि नित्य है। उच्चारण प्रक्रिया द्वारा केवल उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है।<sup>5</sup> इससे यह स्पष्ट होता है कि ध्वनियों को अनश्वर मानने की विचारधारा प्रातिशाख्यकाल में ही प्रचलित हो गई थी। अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं अधिक काल तक उच्चरित हो सकने से स्वरों को व्यंजनों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। परिणास्वरूप स्वर ही अक्षर का पर्याय हो गया। अधिकांश प्रातिशाख्यों में स्वर को ही अक्षर कहा गया है।<sup>6</sup> परन्तु ऋ० प्रा० में व्यंजनयुक्त, अनुस्वारयुक्त तथा शुद्ध स्वर को भी अक्षर कहा गया है।<sup>7</sup> इसका कारण यह था कि छन्दों के निर्धारण में ध्वनियों को इकाई मानकर उनकी गणना करके, छन्दों का नामकरण प्राचीन छन्द-शास्त्रियों ने किया। वैदिक छन्दों की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है, कि वैदिक छन्द मन्त्रों के अक्षरों की गणना पर आधारित हैं। अर्थात् वैदिक छन्द आक्षरिक कहे जा सकते हैं। छन्द शास्त्र में अक्षर का अर्थ 'स्वर' है। वैदिक मन्त्रों को छन्दोबद्ध रूप में उच्चरित करने पर उनकी प्रत्येक ध्वनि पर स्वराघात का होना आवश्यक है। अतः प्रश्न होता है कि जब अक्षरों में स्वरों की ही गणना की जाएगी तब तो व्यंजन स्वराघात रहित हो जायेंगे। अतः ऋ० प्रा० में व्यंजन से युक्त तथा अनुस्वार से युक्त स्वरों को भी अक्षर संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसा करने से किसी भी मंत्र की प्रत्येक ध्वनि किसी न किसी स्वर का अंग बनकर स्वयं भी स्वराघात युक्त हो जाएगी। इसीलिए ऋ० प्रा० का अक्षर-संबन्धी मत अन्य प्रातिशाख्यों से कुछ अंशों में भिन्न है एवं महत्त्वपूर्ण भी है। प्रातिशाख्यों में स्वर को ही अक्षर कहने का प्रमुख कारण यह है कि स्वर ही अक्षर का आधार होता है। बिना स्वर के अक्षर नहीं बन सकता। तै० प्रा० पर त्रि० में कहा गया है – कृप्, यूप इत्यादि शब्दों में स्वर एक ही प्रकार का होने से केवल व्यंजन ही अर्थविशेष का बोधक होता है। अतः स्वरों को व्यंजन का अंग क्यों न माना जाय ? इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि व्यंजन तो अकेला टिक भी नहीं सकता, अपितु वह स्वर-सापेक्ष है, स्वर तो निरपेक्ष है।<sup>8</sup> इसका अर्थ यह है कि ध्वनियों को अक्षर कहलाने के लिए स्वर की सत्ता अत्यावश्यक है। जिस पद में जितने स्वर होंगे, उतने ही अक्षर भी होंगे।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अक्षर का मुख्य तत्त्व स्वर है। बिना स्वर के अक्षर का निर्माण नहीं हो सकता। प्रातिशाख्यों में समानाक्षर और संध्यक्षर संज्ञाओं का प्रयोग स्वर वर्णों के लिये ही किया गया है।

प्रातिशाख्यों में अक्षर संज्ञा का प्रयोग उपर्युक्त कई अर्थों में हुआ है, परन्तु आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक अंग्रेजी भाषा के सिलेबल के लिए अक्षर शब्द का प्रयोग करते हैं तथा इसकी व्युत्पत्ति अक्ष+र अर्थात् अक्षवाला 'शीर्षवाला' करते हैं। आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिक शब्दों के उच्चारण में स्वल्प तथा अधिक स्पष्ट ध्वनियों को क्रमशः 'गह्वर' तथा 'शिखर' के द्वारा प्रस्तुत करते हैं। किसी शब्द या वाक्यांश में जितने शिखर होंगे, उतने ही अक्षर भी होंगे। स्वर ध्वनियाँ व्यंजन ध्वनियों की अपेक्षा स्वभावतः अधिक मुखर होती हैं। अतः स्वर ध्वनियों को शिखरों तथा व्यंजन ध्वनियों को गह्वरों द्वारा प्रदर्शित करते हैं।

इस प्रकार ध्वनि-शास्त्रीय विद्वानों द्वारा अक्षर की अनेक व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं, परन्तु इन सभी व्युत्पत्तियों से किसी ऐसी परिभाषा का निर्माण करना कठिन है, जो परिभाषा सर्वमान्य हो। निष्कर्षतः एक या एकाधिक ध्वनियों से युक्त वह इकाई, जिसका उच्चारण वायु के एक ही झटके से हो जाय, अक्षर कहलाती है। यह इकाई अपने में स्वतंत्र होती है, जिससे यह किसी दूसरी

ध्वनि का अंग नहीं बनती। संपूर्ण अक्षर पर एक ही स्वराघात का प्रभाव होता है। किसी भी शब्द में एक अक्षर भी हो सकता है तथा एकाधिक अक्षर भी हो सकते हैं। किसी शब्द में अक्षरों की संख्या इस बात पर नहीं निर्भर करती, कि उस शब्द में कितनी ध्वनियाँ हैं, अपितु इस बात पर निर्भर करती है कि उस शब्द का उच्चारण कितने झटके में होता है। जिस शब्द का उच्चारण जितने झटके में होगा, उस शब्द में उतने ही अक्षर होंगे। आधुनिक ध्वनि वैज्ञानिकों ने यन्त्रों की सहायता से किसी भी शब्द में अक्षरों की संख्या का ठीक-ठीक पता लगाने में सफलता प्राप्त कर ली है। दूरभाषयंत्र पर वार्तालाप करते समय कुछ ध्वनियाँ अधिक मुखरता के साथ सुनाई पड़ती हैं। ये ध्वनियाँ ही अक्षर के प्रमुख आधार हैं। इन्हें आक्षरिक ध्वनि कहा जाता है। ये अधिक मुखर ध्वनियाँ, स्वर ध्वनियाँ ही होती हैं।

सभी प्रातिशाख्यों में स्वरों को ही अक्षर का आधार स्वीकार किया गया है। परन्तु कतिपय ऐसी व्यंजन ध्वनियाँ भी हैं जो किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अक्षर का कार्य करती हुई देखी जाती हैं। डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार अंग्रेजी भाषा के शब्द में आया हुआ नकार अधिक मुखर होने के कारण आक्षरिक ध्वनि है। भारतीय ध्वनि वैज्ञानिकों का ध्यान भी रेफ तथा लकार के आक्षरिक रूप की ओर पहुँच चुका था। भारद्वाज शिक्षा में कहा गया है कि लकार कभी भी पदान्त तथा पदादि में आने पर स्वर नहीं कहलाता है।<sup>9</sup> इससे ध्वनित होता है कि पदमध्यगत लकार ही स्वर है, पदादि और पदान्त नहीं। ऋ० प्रा० में भी इस तथ्य का संकेत पाया जाता है। ऋ० प्रा० में स्पष्टतः कहा गया है कि 'कृप्' धातु के रेफ के लकार हो जाने पर 'क्लृप्' धातु में 'लकार' स्वर हो जाता है।<sup>10</sup> इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि रेफ और लकार में कुछ स्वरात्मकता होती है। तै० प्रा० पर वैदिकाभरणभाष्य में भी कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त होते हैं, जिनके अनुसार ङ, ज, ण, न, म तथा अ ध्वनियाँ अवसान में स्थित होने पर निर्धारित काल से अधिक मात्रा में उच्चरित होती हैं। अर्थात् ये व्यंजन, पद के अवसान में स्थित होने पर अपनी निर्धारित मात्रा से अधिक मात्रा में उच्चरित हो सकते हैं।<sup>11</sup> इनका अधिक समय में उच्चरित होना इस बात को सिद्ध करता है कि अन्य समीपवर्ती व्यंजनों की अपेक्षा इन ध्वनियों में अधिक काल तक उच्चरित होने की क्षमता होती है। इनके अधिक काल तक उच्चरित होने का तात्पर्य है, कि ये ध्वनियाँ अन्य ध्वनियों की अपेक्षा अधिक मुखर होकर उच्चरित होने की योग्यता रखती हैं। अधिक मुखरता से उच्चरित होने वाली ध्वनि आक्षरिक होती है। इसी प्रकार स्वरितग्राही व्यंजनों के उच्चारण में भी अन्य व्यंजनों की अपेक्षा अधिक समय लगता है। अतः ये ध्वनियाँ भी अक्षर-निर्माण कर सकती हैं। 'स्वरव्यंजनशिक्षा' में तो इसी तथ्य पर विचार ही किया गया है, कि रेफ किस परिस्थिति में व्यंजन एवं किस परिस्थिति में स्वर होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के रहते हुए भी यही कहा जा सकता है, कि स्वर ध्वनियाँ ही अधिकांश रूप में अक्षर का आधार बनती हैं, व्यंजन नहीं। क्योंकि व्यंजन ध्वनि को कितने भी प्रयास से उच्चरित किया जाय, वह स्वर की समानता नहीं कर सकती। अधिकांश रूप में स्वर ही अक्षर का आधार होता है। व्यंजन स्वरों के साथ रहकर अक्षर की सीमा में आते हैं। ऊपर जो अनुनासिक वर्णों (ङ, ज, ण, न, म) के अक्षरत्व की बात कही गई है, उसका केवल यही तात्पर्य है कि वे ध्वनियाँ अक्षरात्मक ध्वनियों की भाँति अधिक मुखरता से उच्चरित होती हैं। परन्तु यदि स्वराघात वहन करना अक्षर का प्रधान गुण मान लिया जाय, तो ये ध्वनियाँ अक्षर की सीमा में नहीं आ सकतीं। इनका स्वर वही होगा, जो इनके पूर्ववर्ती स्वर का होता है। इसीलिये प्रातिशाख्यकारों ने स्वरों को ही अक्षर का प्रमुख आधार माना है। स्वरों को ही अक्षर का अनिवार्य तत्त्व कहने का एक कारण यह भी है, कि किसी भी शब्द में यदि स्वर नहीं है, तो व्यंजनों का उच्चारण करना ही असंभव हो जाता है। अब यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि जब

स्वराघात केवल स्वरों का ही गुण है तो वह व्यंजनों में किस प्रकार से आता है ? क्या व्यंजन स्वराघातहीन होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन भारतीय ध्वनि-वैज्ञानिक ग्रंथों में अनेकशः पाया जाता है। पंतजलि ने पा० सू० पर महाभाष्य में कहा है कि ये (अनुदात्तादि) व्यंजन के गुण नहीं हैं, ये स्वर के गुण हैं। स्वरों की समीपता से ही व्यंजन भी उनके गुणों को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार दो लाल रंग के वस्त्रों के बीच रखा हुआ सफेद वस्त्र भी लाल रंग के गुणों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार व्यंजन भी स्वरों की समीपता से उनके गुणों को धारण कर लेते हैं।<sup>12</sup> उसी स्थल पर पंतजलि यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक के पास रखा हुआ धातु का पात्र दीपक के प्रकाश से स्वयं भी चमकने की शक्ति को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार व्यंजन भी स्वर वर्णों के स्वराघात को प्राप्त कर लेते हैं। व्यंजनों की भी अपनी स्वतंत्र मात्रा होती है। प्रातिशाख्यों में व्यंजनों की आधी मात्रा स्वीकार की गई है। एक समस्या यह भी उपस्थित होती है कि किसी शब्द के उच्चारण में स्वर की मात्रा के साथ मिली हुई व्यंजन की मात्रा तो स्वर की मात्रा में वृद्धि उत्पन्न कर देगी, ऐसी परिस्थिति में आक्षरिक मात्रा में भी वृद्धि हो जाना स्वाभाविक है। इस समस्या का समाधान तै० प्रा० पर वै० में दे दिया गया है। उसके अनुसार स्वर के साथ मिले हुए व्यंजन की मात्रा बोलने की द्रुतवृत्ति में स्वर की मात्रा में समाहित हो जाती है।<sup>13</sup> यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अधिक दूध में पानी मिलाने से दूध और पानी मिलकर एकाकार हो जाते हैं, और उसमें दूध की ही प्रधानता रहती है। परन्तु ऐसी प्रक्रिया केवल द्रुतवृत्ति में होती है। किसी व्यंजन को विलम्बित अथवा मध्य वृत्ति में उच्चरित करने पर उसकी मात्रा स्वर की मात्रा में विलीन नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में भी व्यंजन समीपवर्ती स्वर का अंग बन कर उसके स्वराघात को प्राप्त करता है। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि व्यंजनों की भी अपनी मात्रा की दृष्टि से स्वतंत्र सत्ता होती है। 'नारद शिक्षा' तथा 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में एक कारिका प्राप्त होती है जिसमें कहा गया है – जिस प्रकार एक बलवान् राजा दुर्बल राजा के राज्य का अपहरण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार बलवान् स्वर दुर्बल व्यंजन को हर लेता है। अर्थात् उसकी मात्रा को अपनी मात्रा में समाहित कर लेता है। इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार दुर्बल राजा के राज्य का अपहरण करके बलवान् राजा उसके राज्य को अपने में मिला लेता है, परन्तु मूलतः दुर्बल राजा के राज्य की सत्ता भी अपने स्थान पर बनी रहती है उसी प्रकार व्यंजन की मात्रा के स्वर की मात्रा में समाहित हो जाने पर भी, व्यंजन की मात्रा अपने स्थान पर बनी रहती है। पूर्णतः नष्ट नहीं हो जाती। इसी बात को 'या० शिक्षा' में एक बड़े ही अच्छे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उसके अनुसार शब्दरूपी माला में व्यंजनों को आचार्य लोग मणि और स्वरों को सूत्र कहते हैं। जिस प्रकार मणि का आधार सूत्र है, बिना सूत्र के मणियों द्वारा अनेक प्रयत्न करने पर भी माला का निर्माण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार व्यंजनों को भी स्वरों के ऊपर आश्रित रह कर शब्द का निर्माण करना पड़ता है।<sup>14</sup> इसी कारिका की दूसरी पंक्ति में यह भी कहा गया है कि व्यंजन जिस स्वर के समीप स्थित रहते हैं, उसी स्वर के स्वराघात का अनुवर्तन करते हैं – उसी स्वर के स्वराघात से सस्वर होते हैं। शौनक शिक्षा की टीका में कहा गया है कि पूर्वाचार्यों ने स्वर संज्ञा द्वारा अकारादि वर्णों का अंगी होना सूचित किया है, क्योंकि स्वर वर्ण स्वतः निरपेक्ष होकर उच्चरित होते हैं तथा व्यंजन संज्ञा द्वारा अकारादि वर्णों का अंगत्व सूचित किया है क्योंकि व्यंजन वर्ण स्वरों के द्वारा ही व्यंजित होते हैं – उच्चरित होते हैं। स्वर और व्यंजन के पारस्परिक अंगांगिभाव के प्रसंग में पंतजलि ने एक बड़ा ही मनोरंजक उदाहरण दिया है जिसके अनुसार रङ्गस्थल पर गई हुई नटी से यदि कोई व्यक्ति यह पूछे कि तुम किसकी हो ! तुम किसकी हो ! तो वह नटी यही कहेगी कि मैं तुम्हारी हूँ, मैं तुम्हारी हूँ। उसी प्रकार व्यंजनों

का प्रत्येक स्वर के प्रति अंगत्व होना सिद्ध होता है।<sup>15</sup> अर्थात् व्यंजन भी जिस-जिस स्वर के कार्य को प्राप्त होता है, उसी का अंग भी बनता है। सभी प्रातिशाख्यों में व्यंजन को ही स्वर का अंग माना गया है। तै० प्रा० पर त्रि० में कहा गया है कि स्वर स्वतः निरपेक्ष उच्चरित होता है, जबकि व्यंजन स्वरसापेक्ष उच्चरित होता है। सापेक्ष तथा निरपेक्ष के मध्य निरपेक्ष की ही विशेषता होती है। जो अविशिष्ट हो होता है, उसका विशिष्ट के प्रति अंगत्व होता है।<sup>16</sup> इसी प्रकार वैदिकाभरण में भी स्पष्ट कहा गया है कि उदात्तादि स्वर के विचार के प्रसंग में व्यंजन स्वर के ही अंग होते हैं। व्यंजनों के स्वभावतः उदात्तादि गुण नहीं होते। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि व्यंजन स्वरवर्णों के अंग होकर ही स्वराघात का वहन करते हैं तथा 'स्वर' आधार बनकर अक्षर का निर्माण करते हैं।

प्राचीन ध्वनि-वैज्ञानिकों के अनुसार अक्षर का आधार वही ध्वनि होती है, जो अत्यधिक मुखरता के साथ उच्चरित होती है। कोई भी ध्वनि अक्षर का आधार तभी हो सकती है, जब उसका उच्चारण अधिक देर तक होता रहे। उसके उच्चारण में श्वास अधिक समय तक मुँह से बाहर निकलता रहे, तथा जो श्रोता की इच्छानुसार पर्याप्त समय तक सुना जा सके। अर्थात् श्रोता जितने समय तक उसे सुनना चाहे, वक्ता एक ही बार किये गये प्रयत्न से उस ध्वनि को उतने समय तक सुना सकने में समर्थ हो सके। ये सभी विशेषतायें स्वर ध्वनियों के साथ अन्वित होती हैं। अतः स्वर ध्वनियाँ अनिवार्य रूप से अक्षर का आधार कही जाती हैं। व्यंजन ध्वनियाँ स्वर का अंग बन कर अक्षर की सीमा में आती हैं। किसी विदेशी विद्वान ने स्वरों को मकान की दीवाल और व्यंजनों को उसकी छत बतलाया है। जिस प्रकार बिना दीवाल के छत नहीं टिकी रह सकती, उसी प्रकार स्वर के बिना किसी व्यंजन का उच्चरित होना ही असंभव है। इस स्थिति में यही कहा जा सकता है कि प्रधान होने से स्वर ही अक्षर का आधार है।

संघटना की दृष्टि से प्रातिशाख्यों में अक्षर को दो प्रकार का माना गया है – समानाक्षर और संध्यक्षर। इसका कारण यह है कि जो स्वर सर्वांश में समान रूप से उच्चरित होता है, वह समानाक्षर एवं जिसमें दो स्वरों का मेल है, वह संध्यक्षर कहलाता है। यहाँ पर स्वरों को ही अधिक प्रबल एवं श्रव्यता के आधिक्य के कारण अक्षर कहा गया है। अब प्रसंगवशात् अक्षर के प्रकार पर विस्तार से विचार कर लेना उचित होगा।

ऋ० प्रा० के अतिरिक्त अन्य सभी प्रातिशाख्य उच्चारण में लगने वाले समय की दृष्टि से अक्षर को दो प्रकार का स्वीकार करते हैं – लघु और गुरु। परन्तु ऋ० प्रा० लघु एवं गुरु के भी एक-एक उपभेद को स्वीकार करता है। ये उपभेद हैं – लघुतर (लघीय) एवं गुरुतर (गरीय)। ये सभी भेद उच्चारणकाल को ही दृष्टि में रख कर किये गये हैं। अब क्रमशः प्रातिशाख्यों के अनुसार इन अक्षरों के स्वरूप के विषय में विचार किया जा रहा है –

प्रत्येक स्थिति में पाया जाने वाला दीर्घस्वर गुरु होता है। परन्तु ऋ० प्रा० केवल शुद्ध दीर्घस्वर, अर्थात् किसी भी व्यंजन से न मिले हुए दीर्घ-स्वर को ही गुरु स्वीकार करता है।<sup>17</sup> इसके अतिरिक्त यदि किसी ह्रस्व स्वर के अव्यवहित बाद संयुक्तवर्ण हो अथवा अनुस्वार हो, तो वह ह्रस्व स्वर सभी प्रातिशाख्यों के मत से गुरुसंज्ञक होता है।

ऋ० प्रा० के अनुसार व्यंजन सहित ह्रस्व स्वर की ही लघु संज्ञा होती है।<sup>18</sup> अन्य सभी प्रातिशाख्य शुद्ध ह्रस्व स्वर तथा किसी भी व्यंजन से युक्त ह्रस्व स्वर को लघु अक्षर मानते हैं। परन्तु यदि किसी मन्त्र में अथवा श्लोक में ह्रस्व स्वर के बाद संयुक्त व्यंजन वर्ण हो, तब ऐसी स्थिति में आने वाला ह्रस्व स्वर लघु अक्षर नहीं होता।<sup>19</sup> ध्यातव्य है कि ऐसा ह्रस्व स्वर जिसके अव्यवहित बाद संयुक्त वर्ण अथवा अनुस्वार हो, लघु न होकर गुरु संज्ञक होता है।

अक्षर के भेद को केवल ऋ० प्रा० में ही मान्यता दी गई है। जब कोई भी दीर्घ स्वर किसी व्यंजन से युक्त होता है अर्थात् उस

स्वर से अव्यवहित बाद में यदि कोई व्यंजन हो अथवा अव्यवहित पूर्व कोई व्यंजन हो तो वह व्यंजनयुक्त दीर्घ स्वर गरीय संज्ञक होता है।<sup>20</sup> यहाँ पर ध्यातव्य है कि जब उस दीर्घ स्वर से संयुक्त व्यंजन उसी स्वर का अंग होगा, तभी वह अक्षर गरीय कहा जायेगा।

व्यंजन से रहित, केवल ह्रस्व स्वर लघीय संज्ञक होता है। अर्थात् जब कोई भी ह्रस्व स्वर शुद्ध रूप में अकेले ही एक अक्षर का निर्माण करता है, तभी उसे लघीय संज्ञक अक्षर कहा जाता है।<sup>21</sup> इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि अक्षर के उपर्युक्त भेदों का आधार उच्चारण-कालगत विभिन्नता है। अर्थात् दीर्घ स्वर के उच्चारण में दो मात्रा काल लगता है अतः उसे गुरु कहा गया है। तथा ह्रस्व स्वर के उच्चारण में एक मात्रिक समय लगने से इसे लघु कहा गया है। संयुक्त व्यंजन के पूर्व आने वाले ह्रस्व स्वर को गुरु कहने का ध्वनि-वैज्ञानिक आधार अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी भी स्वर के बाद संयुक्त व्यंजन आता है, तो उस संयुक्त व्यंजन का प्रथम अवयव द्वित्व को प्राप्त कर लेता है। इस द्वित्वीकरण का परिणाम यह होता है, कि द्वित्व रूप में उत्पन्न व्यंजन अपने पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर का अंग बनकर गुरु अक्षर का निर्माण करता है। इसी प्रकार ह्रस्व से बाद में आने वाला अनुस्वार भी अपने पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर का अंग बनकर ह्रस्व स्वर के साथ गुरु अक्षर का निर्माण करता है। इन गुरु अक्षरों में किंचित् दीर्घता आ जाती है। जिससे इनका उच्चारण शुद्ध रूप में आये हुए ह्रस्व स्वर से अपेक्षाकृत अधिक समय में होता है। इसी प्रकार यदि कोई ऐसा दीर्घ स्वर जिसके बाद कोई व्यंजन आता हो, अथवा जिसके पूर्व कोई व्यंजन आता हो तथा वह व्यंजन उसी दीर्घ स्वर का अंग हो तब वह दीर्घस्वर अपनी शुद्ध (केवल दीर्घ) अवस्था से अपेक्षाकृत अधिक काल में उच्चरित होगा। अतः इसे ऋ० प्रा० में 'गरीय' संज्ञा प्रदान की गई है। ऋ० प्रा० में प्राप्त लघु और लघीय अक्षरों की व्यवस्था का भी मुख्य हेतु ऐसा ही है। ह्रस्व स्वर जब किसी भी व्यंजन का अंगी होकर उस व्यंजन के साथ मिलकर अक्षर बनेगा, तब उसके उच्चारण में अधिक समय का लगना स्वाभाविक है, अपेक्षाकृत उस स्थिति के, जिसमें वह स्वतंत्र अर्थात् बिना किसी व्यंजन के साथ मिले ही अपने शुद्ध रूप में उच्चरित होता है। यद्यपि त्रिभाष्यरत्नकार ने कहा है कि द्रुतवृत्ति में व्यंजन की मात्रा अपने अंगी स्वर की मात्रा में विलीन हो जाती है, परन्तु ऐसी स्थिति में ऐसा स्पष्ट होता है कि भले ही अंगभूत व्यंजनों की मात्रा स्वरों की मात्रा में विलीन हो जाय, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस विलयन के परिणामस्वरूप स्वर की जो स्वाभाविक मात्रा है, उसमें किंचित् दीर्घता निश्चित आ जाती होगी। अतः ऋ० प्रा० का विभाजन अत्यन्त वैज्ञानिक है।

आधुनिक ध्वनि-वैज्ञानिकों ने अक्षर की संघटना के आधार पर ही उसकी दो अन्य कोटियाँ स्वीकार की हैं - (1) मुक्तअक्षर और (2) बद्धअक्षर। मुक्त अक्षर का तात्पर्य है - वह अक्षर जिसके अन्त में स्वर होता है, जैसे- 'आप्त' शब्द में दो अक्षर 'आप्' और 'त' हैं। इनमें प्रथम अक्षर बद्ध एवं द्वितीय अक्षर मुक्त है। 'बद्ध' अक्षर से तात्पर्य है वह अक्षर जिसके अन्त में व्यंजन होता है, जैसे- 'सर्वम्' शब्द में 'सर्' और 'वम्' दो अक्षर हैं। इन दोनों अक्षरों के अन्त में व्यंजन है। अतः ये दोनों ही अक्षर 'बद्ध' कहे जाते हैं।

### निष्कर्ष (Conclusion)

व्यंजन स्वतः उच्चरित नहीं हो सकते हैं। अपने उच्चारण के लिये उन्हें स्वर पर निर्भर होना पड़ता है। व्यंजन स्वरों के साथ रहकर ही अक्षर की सीमा में आते हैं। व्यंजन स्वरों के द्वारा ही व्यंजित अर्थात् उच्चरित होते हैं, इसलिये उन्हें 'व्यंजन' कहा जाता है।

### संदर्भ (Reference)

1. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य - 1 | 2 पर वैदिकाभरण
2. तै० प्रा० - 1 | 2 पर वैदिकाभरण

3. तै० प्रा० - 23 | 7
4. तै० प्रा० - 2 | 1 पर त्रिभाष्यरत्न
5. वाजसनेयि प्रातिशाख्य - 1 | 99, चतुर्ध्यायिका - 1 | 93
6. ऋ० प्रा० - 18 | 32
7. ऋ० प्रा० - 18 | 42
8. तै० प्रा० 21 | 1 पर त्रि०
9. भारद्वाज शिक्षा - 34
10. ऋ० प्रा० - 13 | 35
11. तै० प्रा० - 1 | 30 पर वै०
12. पाणिनि सूत्र - 1 | 2 | 29 पर महाभाष्य
13. तै० प्रा० - 21 | 1 पर वै०
14. याज्ञवल्क्य शिक्षा - 30
15. पा० सू० - 6 | 1 | 2 पर महाभाष्य
16. तै० प्रा० - 21 | 1 पर वै०
17. ऋ० प्रा० - 18 | 41
18. ऋ० प्रा० - 18 | 43
19. तै० प्रा० - 22 | 14
20. ऋ० प्रा० - 18 | 42
21. ऋ० प्रा० - 18 | 44